

## संपादकीय

दिनेश सिंह

'नये-पुराने' का गीत अंक-3 आपके हाथों में सौंपकर हम उस स्वाभाविक सुख का अनुभव कर रहे हैं जो किसी सार्थक व सशक्त विधा के सृजनकर्म के बीच से होकर गुजरने पर प्राप्त होता है। गीत अंक-2 में हमने गीत के चर्चा-संदर्भ पर नवगीत के चेहरे के कुछ अक्स किंचित साफगोई से दिखाने का प्रयास किया था किन्तु उसे उसकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत कर सामने लाने की हमारी कोई मंशा नहीं थी क्योंकि एक वृहत्तर कैनवास पर रेखांकित कृति के सारे रंग उसकी पूरी पृष्ठभूमि के साथ सम्यक प्रवृत्तिगत विश्लेषण सहित प्रस्तुत करने के लिए किसी लघु पत्रिका का कोई अकेला एक अंक पर्याप्त नहीं हो सकता बल्कि वह सब तो कई संदर्भ अंकों में समेटकर ही सामने लाया जा सकता है। पर इस अधूरे प्रयास की प्रतिक्रिया स्वरूप जो संवाद-स्वर हमारी पकड़ में आये उसके संकेतों का अध्ययन करने पर इस गीत विधा के पंडितों व नामधारी सर्जकों के आपसी अन्तर्द्वन्द्व और कलह से नवगीत के चेहरे पर उभरे खरोंचों के निशान स्पष्ट दिखाई दिए। सब कुछ ऐसा लगा जैसे इस गीत विधा के पुराधाओं में कमान संभालने की बड़ी बैचेनी है और इसकी शिद्दत से उपजी सारी जद्दोजहद के पीछे एक भय काम कर रहा है कि स्थापना के श्रेय में स्वयं की सहभागिता उपेक्षित न हो जाये। इस नाते इस विधा के सभी मठ अधिक चौकन्ने, संवेदनशील और शिवािबद्ध हैं जो नवगीत के सरोवर में अभिव्यक्ति के खिले कमल और प्रवृत्तिगत उठी स्वाभाविक जल लहरियों पर कम तथा सतह पर बाहर से आ गिरी कंकड़ी के हस्त-श्रोतों की पहचान पर अधिक पैनी नजर रखे हुए हैं। फिर भी यह कोई विशेष बात नहीं है क्योंकि अभिव्यक्ति की हर सार्थक व कलात्मक विधाओं-उपविधाओं के प्राथमिक नवस्फोट की चकाचौंध में इस प्रकार की निजी व मानसिक प्रवृत्तियों के प्रवाह फूटते ही हैं जो सृजन की गति के साथ-साथ वेग ठहरने पर ऐसे तमाम आग्रह-दुराग्रह मल की तरल तलहटी में बैठ जाते हैं और निथरी सतह पर केवल गुण-धर्म की साफ-सुथरी-पारदर्शी व्याख्या ही शेष रह जाती है किन्तु क्या कारण है कि 40-50 वर्षों में भी इस विधा के ठहराव-बहाव की ऊपरी सतहों पर तलछट के फेनिल प्रक्षेप दिखाई पड़ते हैं। इस पर नवगीतकारों को सोचना चाहिए। हां ऐसी श्रेय लेने की होड़ से जो कुछ विशेष लगता भी है वह है यह जाहिर होना कि इस विधा विशेष में सृजन स्तर पर काफी कुछ इतना प्रासंगिक व सार्थक जरूर है कि श्रेय की उपलब्धि भी सृजन से कम नहीं आंकी जा रही है।

डॉ० सत्येन्द्र शर्मा के शब्दों में यशः कामी गीत विधा है अतः जितने की यश कामना की पूर्ति में यह विधा सहायक बन सकेगी उतनों को तो इसके अस्तित्व और विकास की चिन्ता रहेगी ही-यही क्या कम है।

नवगीतकारों में आत्म प्रतिष्ठा की चिन्ता इतनी जोरदार है कि इस गीति-स्वरूप के बड़े-बड़े सर्जक इसकी स्थापना का श्रेय स्वयं लेने के लिए आकुल-व्याकुल दिखाई पड़ते हैं पर यदि उनकी गीतपरक रचना-धर्मिता के भीतर झांका जाये तो ये खोखले बेलने की तरह इधर-उधर और ऊपर-नीचे लुढ़कते से दिखाई पड़ते हैं। ये सभी गीतधर्मी रचनाकार अपने गीतों के माध्यम से जिस बोध पीठिका का निर्माण करते हैं वह गीत की वास्तविक दुनिया से जान-पहचान रखने वाली तो जरूर लगती है पर उस बोध गम्यता और सम-सामयिकता से पूरी रागात्मकता नहीं स्थापित कर पाती जिसकी अपेक्षा इस विधा से की जाती है। यदि नवगीत है तो आधुनिकता बोध, जिसमें आज की बदली हुई चतुर्दिक प्रभाव, बौद्धिक विश्लेषण की मानसिकता का रचाव भौतिकता से अतिशय मोह, इनसे प्रभावित आत्मीय रिश्तों की छीजन, आत्मपक्ष की दुर्बलता, संवेदनशील मन के अकेलेपन का बोध इस सबसे उपजा अवसाद, भय-आतंक और घुटन आदि की अभिव्यक्ति में भारतीय मन का जातीय रागबोध और जीवन की लयात्मकता तो बरकरार ही रहनी चाहिए।

गीतों में कैसी भी सायास हो, वह उसकी मूल लय में अवरोध पैदा करती है। जैसे काव्य-बिम्ब का ही संदर्भ ले तो पायेंगे कि नयी कविता में बिम्बों की सायासता उसकी मजबूरी है। आधुनिकता व यथार्थ के जटिल संवेगों की तरह नयी कविता के बिम्ब भी जटिल व संश्लिष्ट होते हैं। बिम्बवादियों की दृष्टि में बिम्ब काव्य के सौंदर्य का उपकरण हैं अभिव्यक्ति को अधिक सटीक व सार्थक बनाने का माध्यम है पर जब वह गीत में उसके नैसर्गिक स्वरूप को छोड़कर नयी कविता के सृजन स्तर पर ढलकर आता है तो अभिव्यक्ति को और जटिल ही बनाता है। रागबोध को कुंहासे में करके अर्थ का एक आभासीय स्वरूप भर खड़ा करता है जैसे फीके मुँह से किसी खट्टी-तीखी वस्तु का चटखारा लिया गया हो। अर्थ प्रक्षेपण और रचना सौष्ठव के संदर्भ में बिम्बों की भी अपनी एक निश्चित सामर्थ्य है। छन्दमुक्त कविता के पास वह एक अमोघ अस्त्र सा हो सकता है, उसकी भाषिक संरचना, सुष्ठ शिल्प विधान व चुटीली अभिव्यक्ति के लिए एकमात्र वजनी उपकरण व समीक्षा के लिए एक जरूरी मानक के रूप में। क्योंकि वहां बिम्ब ही कविता का सौंदर्य बनकर ढलता है और इसे छोड़ देने पर विकल्प रूप में वहां समाटबयानी ही शेष बचती है जो निरा गद्य का मुंह जोहती सी दिखने लगती है। पर गीतों के साथ ऐसी कोई मजबूरी नहीं है। गीत राग, लय, तुक,

ताल गेयता आत्म संवेदना तथा सबसे ऊपर नाद आदि के कविताई आत्मानुशासन से बंधे होने के कारण तथा इन विविध उपादानों से मिलजुल कर अपनी संरचना अख्तियार करने के कारण अपनी स्वतंत्र सत्ता का निर्माण करने में सक्षम हैं। फिर भी आज नवगीतकार गीत से अधिक बिम्बों के फेर में उलझा रहता है। जब गीत में जटिल बिम्बों की झड़ी लगती है तो नयी कविता से गीतकार की आकांतता आभासित होने लगती है। गीतों के बिम्ब और छंदमुक्त कविता के बिम्बों की प्रवृत्ति, प्रकृति तथा स्वरूप में तदात्म्य व एकरूपता स्थापित करने का प्रयास या दोनों का मिलान कर एक दूसरे की काया-छाया रचने का प्रयत्न करने से गीत की अभिव्यक्ति की नैसर्गिक आभा कुंठित हो जाती है और उसका चेहरा बहुत पहचाना सा नहीं रह जाता। यहाँ तरल व द्रावक बिम्बों की ही अनिवार्य सर्जना समीचीन है।

दरअसल मन के प्राकृत व प्रतिभा आवेगों को सीधी-सरल, लयात्मक भाषा चाहिए जो एक मन से फूटकर दूसरे मन तक अपनी सहज पहुँच बनाती हो या जिसमें भावाकुल तरलाई इस प्रकार प्रवाहमान हो रही हो कि भावक या सहृदय को द्रवीभूत कर जाये। गीत, में चोट पहुँचाने की मंशा नहीं होती। इसकी प्रेषणीयता सहवेदनात्मक होने के कारण एक के दुख को दूसरे का दर्द बना देती है। गीत की यह गुणात्मक विशेषता उसका जादुई कमाल है जो उसे मनवाणी का दर्जा प्रदान करता है आज के युवा गीतकार नवगीत के नामपर अधिकतर जो परोस रहे हैं वह सामग्री किसी गढ़े हुये मानसिक साँचे में ढली सी लगती है। लय की गढ़न व बिम्बधर्मिता के प्रति ऐसे गीतकारों में एक अतिरिक्त मोह व उत्तेजना दिखाई पड़ती है जो गीत के मूल स्वभाव व विषय वस्तु में हस्तक्षेप सी करती दिखती हैं। बिम्बों के सृजन के लिए ये गीतकार बेचैन से लगते हैं जिससे ऐसी कृतिमता उजागर होती है जो अर्थ की सांकेतिकता को पाठक के मन पर स्वाभाविक रूप से प्रतिबिम्बित करने में धुंधली पड़ जाती है तथा गीतकार का मानसिक श्रम ही धुंध बनकर अर्थवत्ता के आड़े आ जाता है। ऐसे जुगाडू गीतों में प्रायः सहज मनोलय में पिरोयी और पकी हुयी अनुभूतियों के बहाव नहीं मिलते। ठहर-ठहर कर और रिक्त स्थान छोड़-छोड़कर ऐसी कहन में गीत की आत्मा की टीस भी शामिल हो जाती है जो सहृदय पाठक या श्रोता की समझ के लिए असुविधा पैदा करती है। श्रोता की ऐसे क्षणों की बेचैनी उस गीत विशेष के प्रति होती है न कि गीत के असर के प्रति और यहां गीतकार का ऐसा गीत-मन नयी कविता से आकांत लगता है। मानसिकता के ऐसे न्यूनकोण पर खड़े होकर आज की चीजों को सजाने का यह तरीका गीत की जिन्दगी और उसके व्यापक सौंदर्य बोध को कभी भी रास नहीं आ सकता। इस प्रकार के सजावटी बिम्बों से गीतों को सजाने में प्रायः गीत अपनी संवेदनात्मक भावभूमि से भटक जाते हैं और प्रेषणीयता के धरातल पर तमाम रोड़े दिखाई पड़ने लगते हैं। दरअसल संवेदना के स्वरूप को भी गीतों में बहुत बारीकी से देखना पड़ता है क्योंकि गीतकार में उसके भीतर से जो संवेदनात्मक प्रवाह उठता है वह आखिरकार वस्तु या घटना विशेष के प्रभाव से ही प्रत्यावर्तित होकर आता है किन्तु यह प्रभाव गीतकार में उस स्थिति विशेष के प्रति संवेदनात्मक साहचर्य का भाव जगाता है जो अंततः सहवेदना का रूप ग्रहण कर लेता है जैसे वंशी और मादल के गीतों में इसी सहचर्य संवेदना की उठती हुयी हिलोर सहृदय पाठक महसूस करता है और इन गीतों को पढ़ने-सुनने के बाद देर तक मन के तार बजते रहते हैं। आज के गीतों से संवेदनात्मक स्वरूप की ये तरंगे पाठक या श्रोता तक यदि नहीं पहुँच पातीं तो उसके कारणों पर भी तटस्थता पूर्वक विचार करना चाहिए। गीत रचना काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक दुष्कर कर्म है। क्योंकि इस माध्यम में यथार्थबोध की सारी वैज्ञानिकता को इन्हीं रागात्मक तरंगों में चढ़ाकर पाठक या श्रोता तक पहुँचाना पड़ता है और यहां गीतकार की परीक्षा भी होती है।

गीत की रचनाधर्मिता हिन्दी काव्य की एक सांस्कृतिक-प्रक्रिया है जिसका सीधा जुड़ाव जनजीवन से है। जीवन और जन से विलग होकर उसकी अस्मिता और समग्रता की कल्पना भी करना व्यर्थ है। आज के गीतों में प्रवृत्तिगत नवता जातीय बोध के साथ जनजीवन की विषय वस्तु के दायरे में ही हो सकती है। आज की आधुनिकता तो महज एक फैशन बन गई है जो जितनी ही समयानुकूल है उतनी ही तत्कालीन भी। आज की आधुनिकता कल के आने पर पुरानी होकर पुरातन में बदल जायेगी। उसे पूर्व और उत्तर में तभी बांटा जा सकता है जब जीव जगत के जीवन कम का कालखंड परिगणित कर लिया गया हो या उसके तिरोहित हो जाने का काल बिन्दु पोरों पर गिनकर निश्चित कर लिया गया हो और प्रवृत्तियों के बदलाव पर पूर्णविराम की स्थापना पूरी तरह आँकी जा चुकी हो। वास्तव में यह सारा मामला सीमित और कुंठित सोच और उससे उपजी खीझ का है। अस्वीकृति का भाव स्वभाव में खपाने के लिए जिस प्रखर प्रतिक्रियात्मकता की जरूरत होती है उससे आज का आदमी भरा-पूरा है। सबसे आगे आकर सारी भौतिकता को अपने निजी घेरे में करने के प्रयास में यह प्रतिक्रियात्मकता पैदा होती है जो धीरे-धीरे जीवन की लय में इस प्रकार समाहित हो जाती है कि वह उसकी स्वाभाविक वृत्ति लगने लगती है। अपने मानसिक परिवेश से अलग संसार के प्रति उसकी यही अरुचि धीरे-धीरे अस्वीकृति का स्थायी भाव बन जाती है। जो मन की संवेदनाओं के स्वरूप में दखल करने लगती है और रचना प्रक्रिया को प्रभावित कर रचना को सहज मनोलय से भटका देती है। आज की आधुनिकता भी क्या चीज है जो गीतधर्मियों का इस तरह पीछा करती है और उन्हें इस प्रकार जकड़ रही है कि वे मन से मन तक मार करने वाली राग की इस स्वतंत्र व जादुई विधा को अन्य आधुनिक काव्य विधाओं की स्पर्धा में उन्हीं के गुण धर्म स्तर पर लाकर खड़ा करने को लालायित हैं। शैल्पिक स्तर पर छंदमुक्त कविता के पायदान पर खड़े होने की यह बेचैनी गीत को उसकी मूल पहचान से तो काट ही रही है साथ ही अपनी स्वतंत्र अस्मिता को भी बट्टा लगा रही है। यह स्थिति रचनात्मक स्तर पर एक भोड़ेपन को ही उजागर करती है।

आज राष्ट्र, समाज, परिवार जैसी अनेक संस्थाओं का संगठनात्मक व सांस्कृतिक ढाँचा तमाम स्तरों पर विघटित होकर निरपेक्ष इकाइयों में बँटता जा रहा है। हमने पहले भी कहा है कि हमारी सांस्कृतिक चेतना जो तमाम भाषाओं, जातियों, बोलियों

और सभ्यताओं से संश्लिष्ट होकर तथा इस महान देश की राष्ट्रीय चेतना बनकर विश्वमंच पर हमारी अलग पहचान स्थापित करती थी। वह सांस्कृतिक संक्रमण के इस दौर में धुंधली पड़ती जा रही है। विभिन्न स्तरों पर वैश्वीकरण की ललक हमें अपनी जड़ों से काट रही है। इक्कीसवीं सदी के स्वागत में हम जो चेहरा लेकर खड़े हो रहे हैं उसमें भारतीयता के कितने अक्स बचे हैं यह जानने-पहचानने की चिन्ता किसी को नहीं है विशेषकर तब जब कि वैश्वीकरण की चिन्ता में अनुकूलन की तेज प्रक्रिया अपनाते तथा सबसे आगे जाने की ललक में उदारीकरण की चिन्तना हमारी अस्मिता पर घातक दबाव बना रही हो। गीत तो दरअसल हमारे मन का स्वभाव है हमारे भीतर की रागात्मक ध्वनियां और संकेत जो हमें अपने पड़ोसी के दर्द से जोड़ते हैं वे हिन्दी काव्य की इस विधा में आज भी मौजूद हैं यही गनीमत है। गीत मात्र गाने या गुनगुनाने की ही चीज नहीं है बल्कि हमारी जातीय अस्मिता को विश्व कलामंच पर अपनी एक अलग पहचान के साथ स्थापित करने का माध्यम भी है। अपनी जड़े खोकर किसी भी छतनार के हरे-भरे रहने तथा पुष्पित पल्लवित होने की आशा कैसे की जा सकती है। आखिर क्या हुआ और क्या हो रहा है जो अपनी जड़ों को खोजने का प्रश्न उठ खड़ा होने लगा है और हमें भीतर ही भीतर महसूस होने लगा है कि हम अपनी पहचान से कटकर अपने लिए ही नितांत अपरिचित होते जा रहे हैं। भौतिक साधनों-संसाधनों से लैस आज की पीढ़ी कितनी विजड़ हो गयी है कि उसे अपने जीवन की मूलभूत लय का ही पता नहीं है। जीवन की लय से जुड़े रागों को पूरी तरह टूट-बिखर जाने पर बाजार के अतिरिक्त और हमारे पास क्या बचेगा तथा हम उपभोक्ता या सक्षम ग्राहक के अलावा क्या रह जायेंगे? अपनी इस आभासी अस्मिता से क्या हम देर तक संतुष्ट रह पायेंगे? इस सवाल से जूझने के लिए भी गीत को चाक-चौबन्द रहना चाहिए। हाँ, नितान्त भाववादियों को भी यह जान लेना चाहिए कि गीत केवल भावकुलता का ही प्रतिफलन नहीं है। आज गीत को न तो वैचारिकता से बचाया जा सकता है और न बचाना लाजमी ही है। भाव और विचार की समन्वित अनुरेख की आज के गीत की आधारशिला होनी चाहिए। समाज के प्रति अपने सांस्कृतिक दायित्वबोध के कारण अनुभव और अनुभूति की आन्तरिक प्रक्रिया विचार प्रभावों का भी स्वाभाविक रूप से संश्लेषण करती है और वे विचार धीरे-धीरे अनुभूति की रसमयता में घुलमिल जाते हैं। फिर अनुभूतियों के शीर्ष घनत्व पर जो तनाव टूटने की प्रक्रिया जन्म लेती है वह रसधार की तरह गीत में विचारों के साथ प्रवाहित होकर उस को उसकी अन्विति तक पहुँचाती है। सांस्कृतिक संक्रमण के दौर में प्रतिक्रियात्मक रूप से गीत में भी इस प्रकार विचारों का संक्रमण होता है और इस अतिरिक्त भार वहन के लिए अपनी गेयता की शर्तों पर गीत की लय में बदलाव स्वाभाविक रूप से आता है पर 'कन्टेन्ट' या कहन स्वयं ही गीत की तरह बनाये रखता है और इसी कहन से गीत की पहचान स्वयंमेव हो जाती है। गीत जगत में डॉ० रवीन्द्र भ्रमर एक नाम है जिसने गीत की स्वस्थ भावाकुल पीठिका निर्मित करने में अपूर्व योगदान किया है। डॉ० भ्रमर अपने गीतों में रागात्मकता और आत्मीय लय की संगति से अर्थ विन्यास हेतु ऐसे सजल बिम्ब बनाते हैं कि गीत आहिस्ता-आहिस्ता बुद्धि का रास्ता छोड़ मन के रास्ते भीतर तक उतरते चले जाते हैं और सहृदय पाठक या श्रोता को इस तरह अपने राग में बाँध लेने की गीति-सामर्थ्य पूरी तरह से डा० भ्रमर के पास है। डॉ० भ्रमर को गीत के इस भावाकुल रूप विधान से मोह होना स्वाभाविक है। उनके इस दबाव से गीत का भला ही होना है। क्योंकि मूल्यों के इस संक्रमण काल में गीत को उसकी उसकी प्राकृत व प्रातिभ संवेदना से अधिकाधिक जोड़े रखने का इससे कारगर दूसरा उपाय नहीं है। यह दबाव तो बराबर बनाए ही रखना पड़ेगा इस मानसिक तैयारी के साथ कि 'ग्लोब लाइजेशन' से प्रभावित मौजूदा सांस्कृतिक संक्रमण की वजह से गीत का झुकाव अधिकाधिक बौद्धिक आयाम की ओर होगा और अभिव्यक्ति के विस्तृत होते जाते फलक पर गीत नयी लय और गढ़न के साथ रागात्मकता को विरासत की तरह सहेजे हुये आगे आयेगा जहाँ अंततः राग ही उसकी लय का निर्धारण करेगा। पर चीजों की परतें उधेड़कर देखने-दिखाने वाली मनोविश्लेषक भाषा और कुछ तल्ख कहन के साथ जहाँ रूप विन्यास से अधिक पखर व जरूरी चिन्ता अर्थ विन्यास की रहेगी। गीत की यह अर्थ लय उसके भीतर की रागात्मक लय में समायी होगी न कि छंदमुक्त कविताओं में रचना प्रक्रिया के विराम पर बने 'इम्पैक्ट' के बाद बाहर से निःसृत होगी। गीत एक निरन्तर संवेदनशील व स्वभावजन्य आकुलता की चेतन प्रक्रिया है पर उसकी विषय वस्तु जन-जीवन से जुड़ी होने के कारण आज यथार्थ की खुरदुरी व ठोस जमीन पर पसरी हुयी है। सो उसकी लय के विस्तार या फैलाव को किसी 'अति' के दायरे में नहीं लेना चाहिए विध्वंस की तो अति हो सकती है पर निर्माण या सृजन की अति नहीं होती इसलिए जो गीत है वह कभी भी अतिवादी नहीं हो सकता। गीत के संदर्भ में किसी भी अति की ( यदि वह कहीं है) वर्जना होनी चाहिए क्योंकि ऐसा होने पर गीतपरक सामाजिक संस्कृति का भाव स्थायी बनाना संभव नहीं होगा। यह सही है कि विकास के लक्ष्य की चुटिया पकड़कर प्रगतिशील होने की चाह में मन के मानवीय आवेगों को मारा नहीं जा सकता क्योंकि जहाँ ये आवेग मन की प्रतिभ संवेदनाओं से फूटते हैं वहाँ खुद ही कविता गीत बनकर अपने प्रेषण में तथा मानवीय संवेदनात्मक सहभागिता में अधिक प्रासंगिक होकर गूँजने लगती है किन्तु विचारों का संश्लेष और यथार्थ के दर्शन की भागीदारी गीत की मूल लय को कुछ विचलित अवश्य करेगी। ऐसे गीतों को नवगीत ही कहा जाये तो बेहतर है क्योंकि 40-50 वर्षों में भी नवगीत अभी विकास के उस चरम बिन्दु पर नहीं पहुँचा है जहाँ उसके नाम परिवर्तन की जरूरत शिद्दत से महसूस की जा सके। अभी तो वह अंतः संघर्ष और अंतर्द्वन्द की प्रक्रिया में ही रूपायित हो रहा है और कई स्तरों पर प्रतिगामिता के संकेतों को भी समेटे भटक रहा है। यदि नाम परिवर्तन की इस तरह की कोई बड़ी जरूरत कभी समझी गई तो अतिगीत से बेहतर 'मुक्तगीत' कहकर काम चलाया जा सकता है क्योंकि अति प्रत्यय का व्यंग्यार्थ तो गीत के संदर्भ में किसी अराजकता का ही इंगिति बनेगा किन्तु मुक्तगीत कहने में छन्द और लय की रागात्मकता में इसे काफी-कुछ छूट मिल सकेगी-साथ ही गीत होने से गेयता की अनिवार्य त्रासदी (यदि कोई मानता हो तो) उसे भोगने ही होगी। उत्तर आधुनिकता की मानसिकता, अतिथयार्थवाद तथा परम्परा के द्वान्द्विक संघात से उपजी संवेदना समकालीन अंतर्भूत तथ्यों की अभिव्यक्ति के लिए जिस गीत को माध्यम रूप में चुनेगी वह निश्चय ही लय के फैलाव और छंद की स्वतंत्र संरचना के लिए मुक्त होगा। चूँकि गीत है इसलिए लयात्मकता (चाहे कितना ही फैलाव हो) टेक की अनिवार्यता तथा तुक की जरूरी ग्राह्यता बनी रहेगी और इन्हीं मौलिक

गुणों के कारण वे गाये भी जा सकेंगे जहां तुक-ताल का आग्रह अनिवार्य शर्त की तरह स्वाभाविक रूप से बना रहेगा। विजड मानसिकता तो किसी भी प्रकार के बदलाव को ही स्वीकार नहीं करती किन्तु जीवंत मानसिकता के साथ रागबोध को सुरक्षित रखते हुये यथार्थ की संगति-विसंगति में जो गीत मन से मन तक संचरित होगा वह तुक-ताल का भी आग्रही जरूर होगा। गीत का यही चमत्कार है कि वह अपनी गेयता की शर्तों पर भी नयी लय और राग का गढ़न कर लेता है। यह लय उमड़ती घुमड़ती तो जरूर चलती है पर शब्द की अस्मिता को सुरक्षित रखते हुये अर्थ विन्यास के हेतु वर्तुल होती जाती है। शब्दों के आपसी संघात से अर्थ की नयी ध्वनियाँ फूटती हैं-नये अर्थ संकेत मुखरित होते हैं तमाम गोपन-गवाक्ष खुलते जाते हैं। इधर के वर्षों में गीत में ऐसे प्रयोग होते रहे हैं। गीत को नयी-नवेली बहू बनाकर तमाम पर्दों व शर्तों में ढाँपकर रखने से एक घुटन भरी अभिव्यक्ति के खतरे भी सामने आ सकते हैं जो रचना को उसकी धर्मिता स्तर पर 'फेक' बनाते हैं अतः युगबोध की शर्त पर गीत को उसके बाहरी परिधान में छूट देना और भावबोध की शर्त पर उसकी तरलाई व उसकी रागात्मक लयात्मकता को अधिकाधिक द्रावक बनाये रखना ही आज की अनिवार्यता है। इस शैल्पिक द्वन्द से संरचना वे अभिव्यक्ति दोनों स्तर पर गीत की प्रासंगिकता को कहीं से बट्टा लगने की संभावना नहीं है।

आज गीत के स्वरूप से अधिक चिन्ता गीत के तासीर की होनी चाहिए। आधुनिकता के अधूरे परिचित मूल्यों की इस भेड़ियाघसान में मनुष्य एक कारखाने में तब्दील होता जा रहा है। उसका इस तरह मनुष्य से ठेठतंत्र में परिवर्तित होते जाने की अधोमुखी प्रक्रिया में गीत को समयानुकूल नैसर्गिक तासीर सहेजे रखनी है ताकि उसके ज्ञानात्मक तन्तुओं से संश्लिष्ट होने पर भी मानवीय राग के रेशे बचाकर रखे जा सकें आज हमें अपने पारंपरिक स्वरूप का दिग्दर्शन कराना ही पर्याय नहीं है। विसंस्कृतिकरण के खतरे से जूझने के लिए संस्कृति के सक्रिय संवाहकों की तलाश और पहचान भी करनी है क्योंकि इन्हीं के माध्यम से मानव के जीवनगत कार्य व्यापार में अच्छे-बुरे का निर्धारण होना है। आज गीत और नयी कविता के रिश्ते अंतर्भेदी हैं। आज का गीत ऐसे मोड़ पर आ गया है जहां दोनों के बीच संवाद की स्थितियाँ कथ्य और भाषा स्तर पर बखूबी पहचानी जा सकती है। यह सही है कि रचनात्मक विकास का रास्ता टकराव का नहीं है। अपने समय से बँधी कला विधाओं में यह रास्ता अधिक साफ और ऋजु है। अतः नयी कविता से विद्वेष का भाव भी गीत के लिए चिन्तनीय है।

गीत का एक निश्चित स्वरूप होना चाहिए-यह कहना और इसी जिद पर अड़े रहना भी बहुत उचित नहीं लगता क्योंकि यह विकास के मूलभूत ऐतिहासिक सत्य को ही नकारना है इसे अपने समय के प्रति एक नारात्मक सोच का प्रलाप भी कहा जा सकता है। हर क्षेत्र में प्रथम दृष्टया विकास को चीजों के परिवर्तित स्वरूप व छवि के बदलाव के सापेक्ष ही देखा जाता है। हाँ गीत को विशुद्ध रूप से रूप और भाववादी मानने वालों को कोई दिक्कत हो, यह अलग बात है पर गीत के स्वरूप व संवेदन विस्तार को रूढ़ मानकर उसे ज्ञानात्मक संवेदन के विस्तृत आयाम तक ला खड़ा करने की कोशिश को नियंत्रित करना विशिष्ट दे शकाल के सापेक्ष्य उसे रूढ़ रचना कर्म के खूँटें में बाँधकर रखने जैसा ही है जहाँ गीत, गीत से ज्यादा गाय-सा दिखने लगता है। गाय के लिए हाय-हाय करने या मात्र उसके गुण गिनाने से बेहतर है उसके दूध का सेवन कर तदजनित ऊर्जा व अर्जित सात्विक मानसिकता को काल आयामों के विस्तृत फलक पर विषयवस्तु दृष्टिबोध के साथ स्थितियों और चीजों को अपने स्वाभाविक घटनाक्रम में घटित होने की प्रक्रिया तथा उसके प्रभावों को जांचने-परखने और उन्हें गीत की रचनाधर्मिता के दायरे में लाने के काम में लगाया जाये जिससे गीत एक व्यापक दृष्टिबोध के साथ पूरे मानवीय राग से अपने समय के सत्य की समग्रता को बांधकर गुणगुना सके। कविता मन की आँखों से चीजों और उनके परिवर्तित होते रूपों स्वरूपों को देखती है। इस संदर्भ में गीत कुछ अधिक ही मनोरागी माने जा सकते हैं। पर उन्हें विशिष्ट कालखंड के खूँटें पर बाँधकर उनका मात्र गुणगान करने वाले मनोरागी माने जा सकते हैं। वास्तव में मन का फलक बहुत विस्तृत विकासमान तथा चंचल है जिसकी तरल संवेदन-सतहों पर हर प्रकार की बाहरी-भीतरी गतिविधियों से उपजी प्रभावोत्पादकता की आहटें रेखांकित हो जाती हैं। सृजन के लिए इन रेखांकनों को काव्यात्मक रचना प्रक्रिया में ढालने पर युगीन संवेदनाओं से संश्लिष्ट गीतपरकता दृष्टा या भोक्ता को उपलब्ध होती है। इस प्रकार सृजन में ये प्रभाव अनुभव बिम्बों द्वारा रूपान्तरित होकर काल की अमूर्त धारणा को मूर्तमत्ता प्रदान करते हैं। काल की पहचान उसकी परिधि (पहुँच) में आने वाली चीजों की ऊर्ध्वमुखी, क्षैतिज या अधोमुखी गतिविधियों से बखूबी हो जाती है जहाँ मनुष्य किया प्रतिक्रिया के केन्द्र में भोक्ता की भाँति खुद ही अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार गीत मनुष्य के भीतर और बाहर के रागात्मक सामंजस्य ही लयात्मक अभिव्यक्ति बन जाता है। यों तो कोई भी गूँज रेखीय नहीं होती वह अपने फँलाव में चकावर्तित होती जाती है। जहाँ सन्नाटे में एक चीख रेखीय होकर भी सृष्टि के सारे आयामों तक फैलकर सर्वव्याप्त हो जाती है ओर एक धारकदार भाषा बन जाती है। शब्द ओर नाद का यह प्रभाव अंततः अपनी पहुँच में वृत्ताकार होता जाता है जो ब्रह्माण के वृत्तीय व अनुरेखीय संश्लिष्टता के स्वरूप को ही व्यक्त करता है। यही स्वरूप लय और गूँज के रूप में गीत को भी मिलता है इसलिए कहा जा सकता है कि गीत की व्याप्ति सकल ब्रह्माण में है।

नवगीत में अधिकांशतः गीतकार प्रायः लोक भंगिमाओं को ही नवगीत की पहचान मानकर सायास लोक जगत की ऐसी १ ाब्दालियों की भरमार कर देते हैं जिनमें अधिकतर आज खास और सीमित क्षेत्र में छोटे संवर्गों की भाषा की मरणासन्न ध्वनियाँ मात्र बनकर रह गयी हैं या जो बोलियों के प्रचलन में भी अपनी निरन्तर उपस्थिति नहीं दर्ज करा पाते तथा नये शब्दों की आमद से वे खुद-ब-खुद नेपथ्य में चले जाते हैं। सांस्कृतिक संकमणशीलता का प्रभाव स्वाभाविक रूप से व्यापक होता है जो सोच से लेकर भाषा स्तर तक बराबर परिव्याप्त होता चलता है। भाषा का यह संकमण तत्कालीनता की अभिव्यक्ति में कारगर होकर स्वरूप और समझ के सारे संकेतों को समय के सापेक्ष अधिक अर्थवान बनाता है क्योंकि शब्द और समय की संगति के उपार्जित भाषा ही

तत्कालीन सामाजिक संस्कृति की संवाहका होती है। इसलिए समय के साथ भाषा के बदलाव की सम्भावनाएँ प्रबल हो जाती हैं और इस प्रक्रिया में परंपरागत प्रयुक्त शब्द अपनी पूर्व संचित अर्थवत्ता खो भी सकते हैं इसीलिए सर्जनात्मक क्षणों में सर्जक को निरंतर शब्द और भाषा की खोज करती रहनी पड़ती है।

इधर गीत-नवगीत के सर्जकों में समीक्षा संदर्भ को लेकर एक बेकली सी दिखाई पड़ती है। वे मानते हैं कि नयी कविता के नामवर समीक्षक किसी दुरभिसंधि के अधीन होकर गीत-नवगीत की समीक्षा नहीं लिखते। नये-पुराने के गीत अंक-2 में हमने यह आवाज लगायी थी कि इस जरूरी व महत्वपूर्ण समीक्षाकर्म को संपादित करने के लिए गीत-नवगीतकारों को आगे आना चाहिए क्योंकि जरूरी नहीं है कि नयी कविता के सर्वमान्य, समर्थ व नामवर समीक्षक छन्दमुक्त कविता की रचना प्रक्रिया के सुपरिचित व सघन बिम्बवादी मिथक से बाहर आकर सर्वथा तरल संवेदनाओं की मनोलाय में पिरोयी हुई भंगिमाओं को भी उसी रूप में पकड़ पाने में पूर्ण समर्थ हो सकें जिनमें वे रूपायित होकर मुखरित हुयी है। उनकी तई ऐसी अल्पपरिचित, अबूझ व नितान्त सूक्ष्म ध्वनितरंगों को सही-सही न माप पाने की संभावय मजबूरी के लिए उनके काव्यगत समीक्षाकर्म की वैज्ञानिकता विशिष्ट विधा के प्रति उनकी विशेषज्ञ सोच को प्रश्नांकित करना और उस पर शंकालु होना कहाँ तक उचित है? क्या जरूरी है कि गणित का एक अच्छा अध्यापक अच्छी हिन्दी भी सिखा सके भले ही उसका भाषामाध्यम हिन्दी ही क्यों न हो? हर विधा के समीक्षकों की भी अपनी विधागत सीमाएँ हो सकती हैं और वे उन्हीं सीमाओं में समीक्षा कर्म के लिए मजबूर भी हो सकते हैं। अतः गीत-नवगीत की समीक्षा के लिए ऐसे विधा विशेष के समीक्षकों को उनकी सीमाओं के लिए 'चैलेंज' करना कहाँ तक प्रासंगिक है। काव्य की किसी जरूरी व विशिष्ट विधा की मानसिकता के अध्येयताओं पर गीत का लेकर कोई भी तोहमत लगाने से बेहतर है कि पूर्णतया गीतपरक मानसिकता के विश्लेषक ही उसकी समीक्षा कर्म के लिए आगे आये। पर प्रश्न उठता है कि गीतकारों या गीत धर्मियों में ऐसे सक्षम विश्लेषक कितने हैं? यह प्रश्न विचारणीय और चिन्तनीय है विशेषकर आज जब गीत रचना को तमाम गीतकारों द्वारा बहुत आसान, जुगाडू और त्वरितपाकी मान लिया गया हो। पारंपरिक गीतकारों की लेखनी तो फिर भी जितना गीतों की रचना प्रक्रिया में कालमुक्त है उतनी ही उसकी पक्षधरता के लिए भी बेचैन है भले ही आधुनिकता, वैज्ञानिकता, देशकाल के प्रभाव, समय के दबाव और वैश्वीकरण के सांस्कृतिक संघातों को ग्रहण करने न करने के प्रश्न पर वे बहुत तार्किक और स्पष्ट न हो पाते हों पर अपने गीतों के संदर्भ में वे भारत की प्राचीन संस्कृति, इतिहास के चमकीले पृष्ठों तथा हृदय पक्ष का हवाला देकर अपनी बात कह पाने की हिम्मत तो जुटाते ही है। जबकि अधिकांश नवगीतकार गीत को जिस जटिल वैचारिकता व नकली बिम्ब विधान का जामा पहनाकार उसे नवता से अलंकृत करने का दंभ भरते हैं वे उसी की तार्किक पक्षधरता के स्पष्टीकरण में एक-दूसरे का मुँह ताकने लगते हैं। यह एक सच्चाई है जो किन्हीं कोरी अहम्वादी पतों में दबायी-छिपायी नहीं जा सकती।

प्रसिद्ध समीक्षक श्री मधुरेश ने कहीं लिखा है कि समीक्षक को प्रायः उन्हीं कृतियों पर लिखना चाहिए जिनके प्रति वह एक वैचारिक एवं रागात्मक लगाव अनुभव करता है। यदि नई कविता वाले बड़े नामवर समीक्षा के इस वैचारिक एवं रागात्मक लगाव के कारण किसी विशिष्ट विधा-उपविधा के समीक्षाकर्म में ही लीन रहना चाहते हैं तो उनकी इस ईमानदारी के प्रति गीत नवगीत वाले उनसे नाहक छेड़खानी क्यों करें जबकि कविता के जाने-माने समीक्षक नामवर सिंह भी समीक्षा को एक व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया का अंग मान रहे हों। यह जरूरी नहीं कि उस प्रक्रिया के सम्पूर्ण और समग्र रूपाकार को वे इस कदर आत्मसात किए बैठे हों, कि कहीं भी कभी भी जरूरत पड़ने पर वे उसकी संपूर्णता का रेशा-रेशा खोलकर विश्लेषण के फलक पर नैसर्गिक रूपाकार में अंतर्निहित तथ्यों को उद्घाटित कर सकें जैसी कि रचनाकार की मंशा रही हो। संस्कृति के संवहन और संवर्द्धन में केवल साहित्य की कोई विशिष्ट विधा ही भूमिका निभाती हो ऐसा तो नहीं है न? तमाम कला विधाएं उसकी उपविधाएं एक साथ इस भूमिका में लगी होती है। उनका मिला जुला प्रभाव ही सांस्कृतिक प्रवाह नियंता बनता है। तो क्या यह मान लिया जाये कि नामवर सिंह ऐसी हर विधा की रचनात्मकता के समीक्षा कर्म के लिए उत्तरदायी हैं और उन्हें इसके लिए मजबूर किया जा सकता है या करना चाहिए। इसमें दो राय नहीं कि नयी कविता के पास अच्छे व योग्य समीक्षक है जो उसके हितों के अच्छे व्याख्याता भी हैं पर कोई अच्छा या बड़ा समीक्षक चाहे वह कितना ही नामवर क्यों न हो समीक्षा के लिए आत्मप्रेरित होने में रचना विशिष्ट के प्रति उसके भीतर आसक्ति और आकर्षण का भाव भी तो उत्पन्न होना चाहिए और यह तभी होगा जब समीक्ष्य रचना समीक्षक की सुपरिचित कला-विचार की भाविवीथियों के बीच से गुजरकर आयी होगी या उसके ही निजी अनुभव व अनुभूति के अंतरंग संवेदनों से रेखांकित हुयी होगी जिसमें शास्त्रीय, पारंपरिक, अभिनव और अद्यतन की भिन्न और एकात्म सीढियाँ भी होंगी तथा सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की ऊँचाइयाँ भी। पर किसी के लिए भी इस समग्र समीक्षकीय स्थिति की पहुँच बनाना बहुत आसान है क्या?

प्रस्तुत अंक में दिल्ली के एक रचनाकार का पत्र छपा है। उस पत्र के संदर्भ को लेते हुए एक बात और कहनी है जो नयी भी नहीं है कि किसी भी सांस्कृतिक रचना प्रक्रिया को देशकाल की समग्रता में पहचानना होता है। तमाम तरह की भाषाओं, बोलियों, रहन-सहन के तौर-तरीकों भिन्न परंपराओं, पूजा, पद्धतियों और भाषायी टोन की भिन्नताओं के बावजूद भी उनके बीच उनकी सम्पूर्ण एकल पहचान बनाने वाले जातीय बोध और उससे निःसृत सामूहिक संस्कृति को सांस्कृतिक समग्रता में ही आंकना होगा। क्षेत्रवार बोलियों-भाषाओं के आधार पर भावाकुलता और उसके अलग-अलग मानकों से मूल्यांकन करने की चेष्टा बचकानापन है। समीक्षा की अवधारणा में इस वर्गीकरण को नासमझी के अलावा और कुछ नहीं माना जा सकता क्योंकि समीक्षक अपनी समग्र-दृष्टि के आलोक में ही रचना का परीक्षण करता है।



प्रस्तुत अंक में डा० वीरेन्द्र सिंह ने नवगीत के परिप्रेक्ष्य में समकालीन गीतकारों में कालसर्जना के आयामों पर दृष्टिपात किया है और महसूस किया है कि अधिकांश गीतकारों में विचार साहित्य के अध्ययन तथा उससे उद्भूत रचना दृष्टि का अभाव है।

श्री नीलम श्रीवास्तव ने नई सर्जनात्मक भाषा का पक्ष लेकर यश मालवीय, शीलेन्द्र सिंह, भारतेन्दु मिश्र, राधेश्याम शुक्ल व डॉ० सुरेश के गीतों का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है जहाँ डा० राजेन्द्र गौतम ने अपने आलेख में नवगीतों में आत्माभिव्यक्ति के स्वरूप की पड़ताल की है।

प्रस्तुत अंक में डा० शिवबहादुर सिंह भदौरिया ने अपने आलेख 'प्रश्नों के आइने में' स्वातंत्र्योत्तर गीत में गीत-नवगीत की चर्चा चलाते हुए इस विधा की आंतरिक गतिविधियों का उल्लेख करके एक लंबे कालखंड को समेटा है। इसमें कुछ आग्रहों-दुराग्रहों के दबावों का खुलासा भी हुआ है साथ ही गीत शिल्प के बदलाव को भी स्वाभाविक विकास क्रम के संदर्भ में सोद्धरण रेखांकित किया गया है और जो स्थापनाएँ की गयी हैं वे नवगीत के विकास के लिए उपयोगी और विचारणीय हैं। उन्होंने गीत निर्माण कला को वया पंछी के स्वतः संचालित निर्माण कला से भी अधिक विलक्षण माना है क्योंकि बया की अपनी गृह निर्माण कला पूरे स्नायुतंत्र में वैसे ही व्याप्त रहती है जैसे गीति-निर्माण कला गीतकार में, किन्तु बया की एकल लयात्मकता उसके घोंसला निर्माण कला में सहायक होती है जबकि गीतकार में अनेक लयों की समवाय स्थिति होती है इसीलिए निर्मित विविधतापूर्ण होती है। भाई श्री गुलाब सिंह ने अपने आलेख में ठाकुर प्रसाद सिंह की रचना 'वंशी और मादल' पर पुनर्विचार की अपेक्षा की है। उन्होंने नये गीतों की पहचान की एक महत्वपूर्ण शर्त मानी है— इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति का त्याग तथा शब्दों को सिक्के की तरह प्रयोग करने का शऊरजहाँ संक्षिप्ति और त्वरा को विशेष महत्व हो। 'वंशी और मादल' के गीत यदि अपने रचनाकाल व कविदृष्टि जैसे विधायक तत्वों के संदर्भ में देखे-परखे जाये तो वे तत्कालीन पश्चिमी साहित्य से अभिमुख प्रयोगवादी कविता के द्वार पर लोकधर्मी प्रवृत्ति सहेजे सृजन में सर्जक के पूर्ण विलयन के साक्षी बनकर खड़े हो जाते हैं। यही ये गीत गीत के अतिरिक्त कला के संग कलाकार के विसर्जन की भी अनुभूति जगाते हैं। 'वंशी और मादल' के अधिकांश गीत लोक चेतना की एक अभिजात्य गंध के साथ अपनी रचनात्मक भंगिमाओं में युगधर्म का पूरा-पूरा निर्वाह करते हैं। आज की कविता की संवेदनात्मक बारीकियों के रेशे इन गीतों की बुनावट में साफ-साफ देखे जा सकते हैं। गीत का यह संवादी स्वर आज के 'झटपटिया सृजन' वाले गीतों में कठिनाई से ढूँढे मिलता है।

डा० विश्वनाथ प्रसाद ने नवगीत की पहचान और उसकी विशेषताओं का संदर्भ लेकर नवगीत के लिए नाद तत्व को महत्वपूर्ण माना है तथा विशिष्ट व विविध सांकेतिकता से युक्त बिम्बों को ही नवगीत के लिए उपयुक्त समझा है जो नवगीतकार के लिए साधन मात्र हैं।

विशिष्ट रचनाकार खंड में पिछली बार हमने डॉ० माहेश्वर तिवारी की गीत परकता के विविध आयामों को जाँचा परखा था। माहेश्वर के गीतों की प्रतीकात्मकता, बिम्ब संयोजन, मिथकों का सांकेतिक अर्थ विन्यास और इस विन्यास से जातीय अस्मिता की पुरजोर दीप्ति तथा विषय वस्तु के व्यापक कैनवास पर उमरी जन जीवन के विविध रंगों की छटी गीत-नवगीत की दुनियां में अपना विशिष्ट स्थान बनाती है। उनके ये रागात्मक रेखांकन जितने प्रिय और मानकीय हैं, गीतों के प्रति उनकी सौच और गीतात्मक व्यापकता का उनके दृष्टिबोध साथ ही उसे व्याख्यायित कर पाने का उनका शऊर भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। जो आज के युवा गीतकारों में कम ही मिलता है। मैंने ऊपर भी संकेत दिया है कि आज ऐसे गीतकारों की संख्या बहुत अधिक नहीं है जो लेखन स्तर पर अपने ही गीतों की समझ के प्रति तटस्थ, वैज्ञानिक साफ सुथरा, विश्लेषणात्मक तथा संपूर्ण नजरिया रखते हैं।

इस बाद विशिष्ट रचनाकार खंड में हमने गीतकार श्री रमानाथ अवस्थी को लिया है। श्री अवस्थी को प्रायः मंच के परंपरावादी गीतकार के रूप में स्वीकार किया जाता है। यहां उनके गीतकार व्यक्तित्व को सामने रखकर उनकी रचनात्मकता को इस दृष्टि से जानने-पहचानने का प्रयास किया गया है कि गीत के उस स्वरूप की जिसकी लय को वे अपनी रचना प्रक्रिया में सहेजकर चलते हैं—आज कितनी प्रासंगिता शेष बची है जो आज के जीवन की लय से मेल खाती है, और उसके संवाहकों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराती है। किसी भी रचनाकार ने परिमाण में कितना लिखा है यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह कि अपनी रचना के गुण धर्म के आधार पर वह समसामयिक माहौल में कितनी जोरदार दस्तक देकर अपनी उपस्थिति जता पाता है या उसकी रचनाएँ विधा विशेष के ऐतिहासिक विकास क्रम के किस पायदान पर खड़ी हुयी है। रमानाथ अवस्थी लंबे समय से गीत को अपने जीवन की लय में पिरोकर इस तरह चले हैं कि आज भी सबके बीच उपस्थित मिलते हैं। उनके गीत किसी भी काव्य विधा में खलल नहीं डालते इसीलिए वे हर जगह मौजूद हैं। मंच पर श्री अवस्थी जिस भारतीय दर्शन को पूरी रागात्मकता के साथ गाते हैं वह 'परिमल' (इलाहाबाद की पुरानी चर्चित साहित्यिक संस्था) के समय से आज के बिखरे संस्थाविहीन सामाजिक समय तक में उसी भावाकुलता के साथ सुना जाता है। उनके द्वारा ऐसी सर्वस्वीकृति विषय वस्तु का चयन उनकी कमजोरी है या कि विशिष्टता यह तथ्य इस खंड से स्पष्ट हो जाता है। वैसे वे अपने सृजनगत व्यवहार कुशलता के लिए कितना सजग है इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि वे आज भी समकालीन नयी कविता वालों से लेकर नवगीत तक के रचनाकारों के लिए 'मले' गीतकार हैं।

## नये पुराने गीत अंक-3 (1998)

इस बार तकनीकी अवरोधों के कारण यह अंक कुछ विलम्ब से आया है। इसमें हम 'लोक-पक्ष' की सामग्री नहीं समायोजित कर पाये हैं। वह सब अगले अंक में प्रस्तुत करेंगे। इ अंक के लिए रचना सहयोग जुटाने वाले गीतकार, समीक्षकों व विद्वानों के हम आभारी हैं जिन्होंने इसे आकार देने में हमारी सहायता की है। अपने पाठकों के प्रति विनम्र भाव रखते हुये हम इस अंक पर उनकी प्रतिक्रियाएँ आमंत्रित करते हैं साथ ही अगले अंक (गीत अंक) के लिए सृजनधर्मियों से सामग्री सहयोग का अनुरोध करते हैं।

सम्पर्क—  
ग्राम-गौरा रूपई  
पो.—लालूमऊ  
जनपद-रायबरेली (उ.प्र.)

(नये पुराने गीत अंक-3, सम्पादक-दिनेश सिंह, प्रकाशक-राजेन्द्र राजन, द्वारा-नेहरू युवा केन्द्र, सीतापुर, उ. प्र., मुद्रक-माहेश्वरी एण्ड संस, नाका हिंडोला, लखनऊ, उ.प्र., वर्ष-1998, मूल्य-रु 40/-, प्रष्ठ-270)